विपश्यना

साधकों का
मासिक प्रेरणा पत्र

बुद्धवर्ष २५३० | मार्गशीर्ष पूर्णिमा | १६ दिसम्बर १९८६ | वर्ष १६ अंक ६

धम्म वाणी

...अनुपट्ठित कायसति च विहरति परित्तचेतसो। तं च चेतोविमुत्तिं पञ्ञा विमुत्तिं यथाभूतं नप्पजानाति- यत्थस्स ते पापका अकुसला धम्मा अपरिसेसा निरुज्झन्ति।

महातण्हा सङ्खय सुत्तं, मज्झिम निकाय

...वह काया के प्रति सजगता न रख कर परिसीमित चित्त का जीवन जीता है। वह व्यक्ति समाधि और प्रज्ञा द्वारा प्राप्त विमुक्ति की उस अवस्था का यथार्थतः साक्षात्कार नहीं कर सकता जिससे कि उसकी सारी अकुशल पाप वृत्तियों का क्षय हो जाय।

संवेदना
(९)

आंख से रूप दिखता है और मानस का एक खंड उसे अच्छा या बुरा, प्रिय या अप्रिय मानकर सुखद या दुखद संवेदनाएं जगाते हुए उसके प्रति राग या द्वेष पैदा करने लगता है। उसी में रमण करने लगता है। जितनी देर आंख से वह रूप दिखते रहता है, मानस उतनी देर तक उसी आलंबन में विचरण करता हुआ राग व द्वेष का प्रजनन करते रहता है। नए नए कर्म संस्कार बनाते रहता है। इन्हें ही दोहराते दोहराते इनको पत्थर पर खींची हुई लकीर की तरह गहरा बनाते रहता है। ठीक यही करता है जबकि कानों से कोई शब्द सुना जाता है अथवा नाक से कोई गंध सूंघी जाती है अथवा जीभ से कोई रस चखा जाता है अथवा त्वचा से कोई स्पर्शव्य पदार्थ का स्पर्श होता है। जब इन पांचों इंद्रिय द्वारों में से किसी पर भी तत्संबंधित विषय का सम्पर्क नहीं होता तो मन की इंद्रिय अपना काम करने लगती है। ऐसे रूप, शब्द, गंध, रस अथवा स्पर्शव्य पदार्थ पहले कभी संपक में आए थे, उनकी याद मन में जागती है और उन्हीं के सहारे मन देर तक भूतकाल में रमण करने लगता है। अथवा ऐसे ही विषयों का सम्पर्क भविष्य में हों या न हों, इस पर चिंतन चलने लगता है तो इनके सहारे मन देर तक भविष्य में रमण करने लगता है। यह चिंतन प्रिय लगता है तो राग जागता है, अप्रिय लगता है तो द्वेष। यों नए नए कर्म-संस्कार बनने लगते हैं और बार बार दोहराए जाने के कारण पत्थर पर खींची लकीर की तरह गहरे बन जाते हैं। वे ही उपादान बनकर कालांतर में नए नए भव के कारण बनते हैं और दुःखों के ढेर पैदा करते हैं। छहों इंद्रियों के द्वारों पर राग-द्वेष की इन प्रतिक्रियाओं के कारण वर्तमान भी दुःखमय, भविष्य भी दुःखमय। राग-द्वेष के संस्कारों के जो बीज इस समय बोता है वे भी दुखदायी और समय पाकर जब उनके फल पकते हैं, वे भी दुखदायी। वर्तमान भी अंधकारमय, भविष्य भी अंधकारमय।

और यह क्रम रात-दिन जीवन-पर्यंत चलते ही रहता है। दुःख ही दुःख, अंधकार ही अंधकार का सृजन होते रहता है। यह सब इसलिए होता है कि मन शिक्षित नहीं है, विकसित नहीं है। मन का ऊपरी ऊपरी हिस्सा जिसे पुरानी भाषा में परित्त चित्त याने सीमित चित्त कहा गया, जिसे आज की पश्चिमी भाषा में कांसस माइंड कहें, चेतन चित्त कहें जो कि सचमुच संपूर्ण मानस का बहुत छोटा हिस्सा है, वह यह जानता ही नहीं कि अपने भीतर ही भीतर गहराइयों तक क्या गुजर रही है? इंद्रिय द्वारों पर बाहरी आलंबनों के सीधे संपर्क में आने के कारण अथवा मानस के इस ऊपरी हिस्से पर इनका चिंतन-मनन होने के कारण यह परित्त चित्त इन्हीं विषयों में लोट-पलोट लगाता रहता है। इन्हीं में मशगूल व्यस्त रहता है। मानस के बाकी हिस्से में जो कि बहुत बड़ा हिस्सा है, उसमें क्या हो रहा है? उस ओर ध्यान ही नहीं देता। पश्चिमी भाषामें कहें तो यह चेतन चित्त (कांसस माइंड) अपने भीतर के अवचेतन, अचेतन (सबकांसस, अनकांसस) में क्या बीत रही है, वहां क्या घटना घट रही है, इस ओर ध्यान ही नहीं देता। इस ओर ध्यान देने के लिए अपने भौतिक शरीर में ध्यान देना होगा। क्योंकि मानस का वह जो बहुत बड़ा हिस्सा है, सतत् शरीर से और उसमें होनेवाली संवेदनाओं से जुड़ा रहता है

और उनके प्रति अंध प्रतिक्रिया करने में निमग्न रहता है। वह इन संवेदनाओं के प्रति सतत् सचेत रहता है। इसीलिए अपने यहाँ इसके लिए अर्धचेतन शब्द नहीं इस्तेमाल हुए। मानस के इन खंडों के लिए आज की सामान्य जन-भाषा के कोई और शब्दों का प्रयोग करें तो शायद अधिक ठीक होगा। जिसे पहले परित्तचित्त कहा गया, जिसे पश्चिम वाले कांसस माइंड कहते हैं, उसे हम बाह्य चित्त कहें और जिसे अपरिमित, महग्गतचित्त कहा गया और जिसे पश्चिमी भाषावाले सबकांसस और अनकांसस माइंड कहते हैं, उसे हम अन्तर्चित्त कहें तो शायद अधिक स्पष्ट होगा।

बाह्य और अन्तर्चित्त के बीच दीवारें खड़ी रहती हैं। याने बाह्य चित्त को पता ही नहीं रहता कि अन्तर्चित्त में क्या बीत रही है। विपश्यना इस दीवार को तोड़ती है। बाह्य चित्त सामान्यतया काया और काया पर सतत् होनेवाली संवेदना की ओर ध्यान नहीं देता। विपश्यना द्वारा उसे यही करना सिखाया जाता है। विपश्यना की भाषा में इसी को सति और संपजन्य कहते है। सति याने जागरूकता और संपजन्य याने शरीर पर होनेवाली इन संवेदनाओं का और उनके अनित्य स्वभाव का निरीक्षण करते हुए समता में स्थित रहना।

यों करने से समग्र चित्त का स्वभाव पलटने लगता है! बाह्य चित्त जो सदा बाहरी बाहरी आलंबनों में उलझा रहता था, वह अब साथ साथ भीतर की ओर भी झांकने लगता है और शरीर पर होनेवाली संवेदनाओं के प्रति सजग रहने लगता है। मानो अपनी जड़ों से जुड़ने लगता है। अंतर्चित्त जो इन शारीरिक संवेदनाओं के प्रति सजग तो रहता था पर उनके प्रति सतत् अंध प्रतिक्रिया करने का स्वभाव बनाए बैठा था और बाह्य चित्त पर स्थापित बुद्धि की कोई बात कितनी ही अच्छी क्यों न हो सुनने को तैयार नही था; अब साधना द्वारा बुद्धि की ही नहीं स्वानुभूतिजन्य प्रज्ञा की बात भी सुनने लगता है। सारा शरीर प्रपंच और इसी प्रकार सारा चित्त प्रपंच कितना नश्वर है, भंगुर है इसे अनुभूति जन्य प्रज्ञा से जानता हुआ उनके प्रति राग और द्वेष की प्रतिक्रिया न कर समता में स्थित रहने लगता है। यों विपश्यना की कल्याणकारिणी विद्या के अभ्यास द्वारा साधक अपने ऊपरी ऊपरी चित्त के विकारों को ही नहीं धो लेता, बल्कि अन्तर्मन की गहराइयों तक जो न जाने कब से सचित संग्रहित सुषुप्त विकार हैं, उन्हें भी उन्मूलित कर लेता है। संपूर्ण मानस को प्रज्ञा के बल पर विकार-विमुक्त कर लेता है। और यह सब होता है शरीर पर सतत् होनेवाली सुखद, दुखद अथवा असुखद-अदुखद संवेदनाओं को विपश्यी भाव से देखते देखते।

विधि की सार्थकता परिणामों से ही मापी जा सकती है, कोरे सिद्धिन्तों से नहीं। शरीर पर होनेवाली संवेदनाओं के प्रति अनित्य बोध के आधार पर समता में स्थित रहने का अभ्यास करनेवाला विपश्यी साधक स्वानुभूतियों से देखता है कि किस प्रकार सदा विकार-विकृत रहनेवाला उसका मानस अब शनैः शनैः बदलता जा रहा है। राग, द्वेष कम होते जा रहे हैं। परिणाम स्वरूप भय, वासना असंतोष, चिंताएँ, कुंठाएँ, व्याकुलताएँ आदि कम होती जा रही हैं। और ये इसलिए हो रही हैं कि मानस का इतना बड़ा हिस्सा जो अपने अंधे स्वभाव का गुलाम था अब उससे मुक्त हो रहा है। मोह, मूढ़ता के कारण संवेदनाओं के प्रति प्रतिक्रिया करते रहने की ही गुलामी थी। अब इन्हीं के प्रति सजगता और समता का अभ्यास इस गुलामी की जंजीरों को तोड़ता है।

कभी कभी सांप्रदायिक दार्शनिक मान्यताओं के जंजाल में उलझा हुआ कोई व्यक्ति यह संदेह प्रकट करता है कि इस नश्वर शरीर और इस पर होनेवाली नश्वर ही संवेदनाओं के दर्शन से किसी को क्या मिलेगा भला? दर्शन तो नित्य, शाश्वत, ध्रुव का करना चाहिए।

परन्तु विपश्यी साधक इस बात को खूब समझता है कि इस नश्वर शरीर और इस पर होनेवाली नश्वर ही संवेदनाओं का दर्शन यदि राग-रंजित अथवा द्वेष-दूषित अथवा मोह-विमूढ़ित होकर करे तो सचमुच अपने दुःख-बंधन का संवर्धन ही होता है। परन्तु विपश्यना तो साधारण व्यक्ति के इसी स्वभाव को बदलना सिखाती है। विपश्यना द्वारा अंधा अन्तर्मन राग और द्वेष की प्रतिक्रिया करनेवाले स्वभाव से मुक्त हो तो दर्शन सम्यक् होता है याने राग, द्वेष, मोह विहीन होता है तो कर्मों के क्लेश-कषाय कटते हैं। चित्त नए विकार बनाने बंद करता है। परिणाम स्वरूप पुरानों का क्षय हो जाता है और तभी वह अवस्था सहजभाव से आ जाती है जबकि इंद्रियातीत नित्य, शाश्वत, ध्रुव का साक्षात्कार हो जाता है। नाम-रूप का, शरीर और चित्त का, संवेदनाओं का, इंद्रिय क्षेत्र का विपश्यनामय दर्शन इसलिए किया जाता है कि इन क्षेत्रों से जो चिपकाव हो गया है वह टूटे और इन क्षेत्रों का अतिक्रमण करके इससे परे नित्य, शाश्वत, ध्रुव, अमृत का साक्षात्कार हो सके। भय, दुःखों से नितांत विमुक्ति मिल सके।

आओ साधको! यही करें! संवेदनाओं को विपश्यनाभाव से देखते देखते उनके अनित्य स्वभाव को समझते समझते विकार-विमुक्त होवें और इस अनित्य क्षेत्र के परे नित्य, शाश्वत, ध्रुव का साक्षात्कार करें। इसी में हमारा मंगल समाया हुआ है।

मंगल मित्र,
स. ना. गो.

❀

भूल सुधार

गत अक्टूबर की पत्रिकाके मुख्य लेख 'रोग बनाम विपश्यना' के लेखक का नाम जो भूल से रह गया था, कृपया नोट करें–

डॉ ओम प्रकाश, सी-३४, पंचशील एन्क्लेव,
नई दिल्ली ११००१७

साधकों के उद्‌गार

कोलंबो की डेंटल सर्जन श्रीमती कुसुम अभयसिंघे जो कि पिछले कई वर्षों से विपश्यना साधना का अभ्यास कर रही है, लिखती है, "अब मेरे जीवन में अधिक शांति आयी है। मैं अपने आप में अधिक रहने लगी हूं और स्वभावतः प्रसन्न रहती हूं। जीवन में धैर्य बढ़ा है। समस्याओं का सामना अधिक चिंता-विहीन होकर कर सकनेकी क्षमता बढ़ी है। पारिवारिक जीवन में आने वाले विभिन्न उतार-चढ़ावों को समता से देख पाती हूं और परिणामतः अधिक प्रसन्न रहने लगी हूँ। औरों के प्रति मैत्रीभाव बढ़ा है, दान-चेतना बढ़ी है और पांचों शीलों का पालन कर सकने की शक्ति बढ़ी है।"

❀

बाराचकिया से नर्वदा तोदी लिखती है, "गुरुवर! मैं जानती हूं कि मेरे अपने ही दोषों के कारण मैं शिविर में बैठने से वंचित रह जाती हूं। वैसे तो अपना बड़ा सौभाग्य समझती हूं कि यह कल्याणकारी विद्या मुझे मिली। वर्तमान में जीनेकी कला हाथ आई। गुरुवर! मैं विपश्यना साधना में जब बैठती हूं तब आप और मां मेरे सामने रहते हैं। आपकी धर्ममयी वाणी, आपके गुणों को बारंबार मेरा प्रणाम है। मेरी मंगल-कामना है कि आप दीर्घायु रहें। गुरुदेव अश्विन पूर्णिमा के दिन ये (पति) ज्यादा बीमार हो गए। पटनाकी खुर्जी अस्पताल में भर्ती कराया गया। हालत खराब थी। मैंने धैर्य धारण कर धर्म की शरण ली और आंखे बन्द कर ली। मुझे ऐसे लगा कि आप में से धारा-प्रवाह मंगल मैत्री झरने की तरह मेरे सिर पर से निकलकर मेरे हाथों में से निकलती हुई इनके सिर से पैर तक जाने लगी। मेरा हाथ इनके सिर पर था। डॉक्टर की आवाज से मेरी आंखें खुल गयी। मुझे विश्वास हो गया कि ये इस समय अवश्य ठीक होकर जायेंगे। १४ दिनके बाद हम लोग घर आ गए। मैंने पत्र आपको लिखना चाहा परन्तु आपकी मंगल मैत्री तो सदा साथ ही रहती है, इसलिए आपको नहीं लिखा। ....

गुरुवर! मैं क्या लिखूं? मन तो ऐसा हो गया है कि रात-दिन शिविर मे ही रहता है पर शिविर में लाभ लेनेका संयोग बनता नहीं। आपकी धर्ममयी वाणीको मेरा बार-बार प्रणाम। गुरुदेव! आप सतिपट्ठान सुत्त की व्याख्या करेंगे, पढ़ते ही शुद्ध तरंगोंसे सारे शरीर के अणु-अणु खिल जाते हैं। मुझे इस अमूल्य समयका लाभ नहीं मिलेगा फिर भी मेरा बड़ा सौभाग्य है कि यह कल्याणकारी विद्या मुझे मिली।

धर्म मेरे जीवन का अंग है। सबका मंगल हो!"

❀

बादलपुर (म.प्र.) से श्री कमलप्रसाद रावत लिखते है। "यहाँ बादलपुरमें स. आ. श्री रामअवध वर्माका जो शिविर लगा उसमें मुझे ओर मेरी धर्मपत्नीको भाग लेनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसका सारा श्रेय श्री वर्माजी और मेरे पुत्र विजयकुमार का रहा जिनकी प्रेरणासे मैं अमृतरस पान कर सका।

मैं ऐसे मित्रोंकी संगत में फंस गया था जिससे मुझे शराबकी लत लग गयी। शिविरमें जानेके लिए मैने संकल्प तो कर लिया परन्तु यह भय हमेशा बना रहता कि किस प्रकार शिविरके नियमों का पालन कर पाउंगा? इस बुरी लतसे छुटकारा पानेका संकल्प लिए दृढ़ रहा कि शिविरमें जरूर जाना है। इस संकल्पका ही इतना प्रभाव हुआ कि शिविरके ८-१० दिन पहलेसे ही पीना छोड़ दिया। इस प्रकार मैंने अनुभव किया कि किसी अच्छे कामके लिए यदि अन्दरसे श्रद्धा जागती है तो किस प्रकार अदृश्य शक्तियां मदद करने लगती हैं।

बड़े उत्साहके साथ शिविरमें चला गया। परन्तु पहले तीन दिन तक तो ऐसा लगा कि यह साधना-वाधना मुझसे नहीं होगी। दोनो कंधों, कमर और जांघोंमें इतनी पीड़ा थी कि एक मिनट भी नही बैठ पाता। मैंने भाग निकलनेका मूड बना लिया था। परन्तु कुछ पुण्य था जिसने रोक रखा। चौथे दिन विपश्यना मिलते ही सारे के सारे दर्द न मालूम कहां छू मंतर हो गए। फिर तो मन लगने लगा और परिश्रम करने लगा तो घंटा-डेढ़ घंटा बैठा रह जाता और पता ही न लगता कि समय कैसे बीत गया। पांचवे दिन ही धारा-प्रवाह अनुभूति होने लगी। शिविरके दौरान यह भी ज्ञान हुआ कि जब तक शीलका ठीकसे पालन न किया जाय, समाधि पुष्ट न होगी। जब तक समाधि पुष्ट न होगी तब तक प्रज्ञा न जागेगी। ऐसा कल्याणकारी मार्ग, जिस करुणभावसे पू. गुरुदेव बांट रहे हैं उससे यदि कोई वंचित रह जाय तो वह अभागा ही होगा। मुझे बड़ा खेद रहा कि मैं दस वर्ष पीछे रह गया।

शिविरसे लौटने पर साधना दोनों समय नियमित चल रही है। लाभ भी हो रहा है। एक घंटा बैठनेके बाद बहुत हल्कापन महसूस होता है। पहले मैं बात-बातमें गुस्सा हो जाता था, अब गुस्सा बहुत कम होते जा रहा है। मनको चंचलता पहलेसे बहुत कम हो गयी है और बड़े से बड़ा काम करनेकी हिम्मत बढ़ती जा रही है। मेरे घरमें छह साधक हैं— माता-पिता, छोटा भाई, बड़ा लड़का और मेरी धर्मपत्नी तथा मैं। शेष परिवार भी इस धर्म गंगामें डुबकी लगाए और मंगललाभी बने! इसी प्रकार विश्वके सभी लोगोंका मंगल हो!"

❀

नागपुरकी कु. कल्पना लवंगड़े अपनी मां के साथ शिविर में पहली बार सम्मिलित हुई। मृगी-रोगसे पीड़ित अविकसित शरीरकी इस बालिका को शिविरके दौरान छठें दिन बाथरूममें ही मृगीका दौरा पड़नेका पूर्वाभास हुआ। पहले जब भी कभी ऐसा होता तो कुछ ही देरमें अचेत होकर गिर पड़ती। परन्तु इस बार विपश्यना करते हुए सारे शरीरकी संवेदनाएँ देखती हुई संयत रही। पूरा होश कायम रहा और वह प्रतीक्षा करती रही परन्तु दौरा नहीं आया। इससे उसकी खुशियोंका ठिकाना न रहा। सहायक आचार्य की मंगल मैत्रीके लिए दौड़ी आयी। सारी स्थिति बताकर धीरजके दो शब्द सुनकर और भी भयमुक्त हुई। शिविर-समापनके पश्चात् घर लौटकर अपने उद्‌गार इन शब्दों में व्यक्त करती है, "शांतिपठार पर रहकर मुझे सचमुच बहुत शांति मिली। मैं

जीवन से निराश हो चुकी थी लेकिन इस विपश्यना साधनाने मुझमें आत्मविश्वास जगाया और जीवन जीनेकी कला सिखाई। विपश्यना साधना एक ऐसा मूल्यवान रत्न है जिसकी बराबरी विश्वका अन्य कोई रत्न कर ही नहीं सकता। इसने मुझे जीवनमें बहुत बड़ा आधार दिया जिसे पाकर मुझे आगे बढ़नेमें कोई कठिनाई नहीं रही। इसे पाकर मै बहुत खुश हूँ। ऐसी परम पावन विद्या पाकर स्वयं को परम भाग्यवान समझने लगी हूँ। इसने मुझे आत्मशक्ति प्रदान कर मेरे विकारोंको नष्ट करनेमें कोई कसर नहीं छोड़ी और सन्मार्ग पर चलनेके लिए सफल संबल प्रदान किया। आपने मुझे समय-समय पर प्रोत्साहित कर मार्गदर्शन दिया उसके लिए आपकी बहुत आभारी हूं। आपका आशिर्वाद रहा तो अपने पैरों पर खड़ी हो सकूंगी।"

❀ ❀ ❀

विशेष सूचनाएँ

१) शिविरमें शामिल होनेसे पूर्व नियमावली पढ़ें और आवेदन पत्र भेजकर अपना नामाकंन करा लें।

२) केन्द्रों में होनेवाले सहयक आचार्य के शिविरों में आवेदन-पत्र तो भेजना होगा परन्तु स्वीकृति-पत्र मिले बिना भी आ सकते हैं।

३) किसी नए भिक्षु/संन्यासी के लिए या जिसे कोई शारीरिक या मानसिक रोग हो या जो बच्चों के साथ आते हों अथवा परस्पर परिचित व्यक्ति एक साथ आते हों तो उनके लिए पूर्व स्वीकृति लेना अनिवार्य है।

४) पूज्य गुरुजी के सान्निध्य मे आयोजित शिविरों में बिना पूर्व स्वीकृति प्राप्त किए किसी भी व्यक्ति को लेना संभव नहीं होगा।

दूहा धरम रा

उलझ्यो ही उलझ्यो र वै, मन मोथो मन मूढ।
बिन विपस्यना ना मिलै, मार्ग मुक्ति को गूढ।।

बुद्धी सूं समझै घणो, बुरा राग अर द्वेस।
पण मन संवरधन करै, राग द्वेस का क्लेस।।

अन्तरमन सद्ग्यान की, आंख्याँ राखै मूंद।
चिकणै घट पर लग सकै, जल की एक न बूंद।।

काया पर सुख दुक्ख का, र वै भोगतो भोग।
विपस्यना कै जोग बिन, कटै न भव का रोग।।

पुण्य जग्यां मंगल जगै, जगै विपस्यना जोग।
अन्तर मँह प्रग्या जगै, जगै मुक्ति संजोग।।

गांठ्यां बांधण को पड़्यो, अंतर इसो सुभाव।
इं सुभाव सू निकळसी, प्रग्या रै परभाव।।

दोहे धरम के

ऊपर ऊपर चित्त के, करता दूर विकार।
पर अन्तर्मन में भरे, राग द्वेष गुब्बार।।

अन्तर्मन सुधरे बिना, होवे नहीं सुधार।
जब तक जड़ में रोग है, आय न रुक्ख बहार।।

अन्तर्मन का काय से, जुड़ा रहे संबंध।
राग द्वेष बढ़ते रहें, बंधे बंध पर बंध।।

अन्तर्मन और बाह्यमन, खड़ी बीच दीवार।
मंगलमयी विपश्यना, कर दे एकाकार।।

सुख दुखमय संवेदना, समता स्थापित होय।
अन्तर्मन की ग्रंथियाँ, सहज विमोचित होंय।।

अन्तर्मन में धर्म का, जागे विमल प्रकाश।
हटे अंधेरा मोह का, कटें कर्म के पाश।।

मेसर्स मोतीलाल बनारसीदास
बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली–११० ००७
की मंगल कामनाओ सहित

विपश्यना विशोधन विन्यास के लिए प्रकाशक, मुद्रक एवं संपादक : रामप्रताप यादव, धम्मगिरि, इगतपुरी–४२२ ४०३. दूरभाष ८६
मार्गशीर्ष पूर्णिमा * मुद्रण स्थान : विपश्यना प्रेस, धम्मगिरि, इगतपुरी. दूरभाष : ७६, १७६ * December 86

वार्षिक शुल्क रु. १०/–
आजीवन शुल्क रु. १००/–

'विपश्यना' रजि. नं. 19156/71
पोस्टल रजि. नं. NS(M)16/86

Licence No. NS 18
to post without prepayment

प्रेषक :

विपश्यना विशोधन विन्यास
धम्मगिरि इगतपुरी–४२२४०३
(जि. नासिक, महाराष्ट्र, मध्य रेल्वे)